Gyanshauryam, International Scientific Refereed Research Journal
© 2022 GISRRJ | Volume 5 | Issue 1 | ISSN : 2582-0095

प्राचीन भारतीय इतिहास की ज्ञान परम्परा में पाण्डुलिपि – विज्ञान का स्वरुप और क्षेत्र

भँवरलाल कुमावत
(राज्य स्तरीय पुरस्कृत शिक्षक) प्रधानाध्यापक
मातु श्रीमती रुकमा भाई रणछोड़ सिह राजपुरोहित राजकीय बालिका प्राथमिक संस्कृत विद्यालय मोहराई

Article Info
Volume 5, Issue 1
Page Number : 128-142

Publication Issue :
January-February-2022

Article History
Accepted : 01 Feb 2022
Published : 10 Feb 2022

सारांश – पाण्डुलिपिविज्ञान (Manuscriptology) यद्यपि आधुनिक शैक्षणिक विषयों (Tutorial Disciplines) में गिना जाता है। परन्तु सत्य तो यह है कि भारतवर्ष की प्राचीन प्रचलित विद्याओं में यह एक शास्त्र के रूप में प्रतिष्ठित रहा है । लिपिविज्ञान (Palaeography) शिलालेखविज्ञान (Epigraphy) पुरातत्त्व (Archeology) इतिहास एवं संस्कृति (History & Culture), ज्यौतिष (Astrology) साहित्यशास्त्र (Rhetoric or Poetics) पुस्तकालयविज्ञान (Library Science) शासकीय लेखविज्ञान (Diplomatics) तथा राजनीतिविज्ञान (Political Science) आदि पाण्डुलिपिविज्ञान के सहायक शास्त्र माने जाते हैं। पाण्डुलिपि पुस्तकालयों तथा आधुनिक संग्रहालयों (Museums) को भी पाण्डुलिपि विज्ञान का ही प्रायोगिक अंग माना जाता है। इसी प्रकार, विविध क्षेत्रों से जुड़े प्रमाणपत्रों एवं सनदों के संग्रहालय (Record rooms) भी पुराने हो जाने पर पाण्डुलिपियों के ही रूप में व्यवहृत होने लगते हैं।

लिपिविज्ञान एवं उसके सहायक शास्त्र

वस्तुत: लिपिविज्ञान एवं अभिलेख विज्ञान - दोनों अन्तस्सम्बद्ध हैं। लिपिविज्ञान (Palaeography) में मुख्यतः कागज, चमड़े, पेपीरस तथा मोमपाटी पर लिखी लिपियों का अध्ययन किया जाता है। ये लिपियाँ विविध लिप्याधारों पर किन साधनों (Devices) से लिखी जाती हैं ? वह साधन कूँची (तूलिका) है, अथवा मयूरपंख का शीर्षभाग अथवा शलाका ? इन सब सन्दर्भो का अध्ययन लिपिविज्ञान में किया जाता है।

अभिलेखलिपि विज्ञान (Epigraphy) में मुख्यतः शिलापट्टों, स्तम्भों, मंदिर भित्तियों, मन्दिरद्वारों, जलाशयों, जलकूपों, विश्रामालयों अथवा अन्यान्य (जयस्तम्भ, कीर्तिस्तम्भ, ताम्रपत्रादि) स्थानों पर उत्कीर्ण अभिलेखों (Edicts) की लिपियों का अध्ययन किया जाता है।
जैसे लिपिविज्ञान एवं अभिलेख अन्तस्सम्बद्ध हैं, ठीक उसी प्रकार पुरातत्त्व (Archaeology) तथा इतिहास एवं संस्कृति (History & Culture) भी मिथ: सम्बद्ध हैं। साथ ही साथ पाण्डुलिपिविज्ञान के सहायक भी।

पाण्डुलिपिविज्ञान का क्षेत्र पुरातत्त्व का अधमर्ण (कर्जदार) होता है। जब प्राचीन ध्वंसावशेषों का उत्खनन (Excavation) होता है तो उसमें अन्यान्य वस्तुओं के साथ शिलालेखादि भी मिलते हैं। ऐसी मूर्तियाँ अथवा अन्य उपयोगी पदार्थ भी मिलते हैं जिन पर कुछ लिखा रहता है। इन समस्त उत्कीर्ण लेखों को हम पाण्डुलिपि के अन्तर्गत रखते हैं।

इसी तरह इतिहास एवं संस्कृति के सहारे हम पाण्डुलिपियों का ऐतिहासिक सूत्र ढूँढ़ते हैं कि यह किस काल - खण्ड में किस नरपति के द्वारा लिखाई गई अथवा किस संस्कृति से इसका सम्बन्ध है ? भारत में सिन्धुघाटी के अतिरिक्त भी तक्षशिला, नालन्दा, विक्रमशिला, वलभी, काशी, जगद्दल, ओदन्तपुरी, काशी, नागार्जुनकोण्डा, नवद्वीप, मथुरा तथा श्रावस्ती आदि क्षेत्रों / केन्द्रों में ऐसी समुन्नत संस्कृतियाँ विद्यमान रही हैं जिनमें पाण्डुलिपियों का प्रभूत लेखन हुआ। इतिहास एवं संस्कृति के अध्ययन से हम इन तथ्यों का ज्ञान प्राप्त कर सकते हैं।

Copyright: © the author(s), publisher and licensee Technoscience Academy. This is an open-access article distributed under the terms of the Creative Commons Attribution Non-Commercial License, which permits unrestricted non-commercial use, distribution, and reproduction in any medium, provided the original work is properly cited

ज्यौतिष (Astralogy) के बिना तो पाण्डुलिपि का ज्ञान ही अधूरा रहता है क्योंकि पाण्डुलिपि की पुष्पिका में आये उसके रचनाकाल को हम बिना ज्यौतिषज्ञान के समझ नहीं सकते। तिथि, वार, घटी, करण तथा योग - इन पाँच अंगों से युक्त पञ्चाङ्ग (पत्रा) ही हमारी सहायता करता है पाण्डुलिपियों के ज्यौतिषीय उल्लेखों को समझने के लिये।

साहित्य (Literature) तथा साहित्यशास्त्र (Rhetoric) से भी पाण्डुलिपियों के अनेक तथ्य सुबोध हो जाते हैं। वस्तुत: छन्द (Prosody) भी इसी शास्त्र का अंगहै जो वार्णिक. एवं मात्रिक - दो प्रकार का होता है। प्रायः प्राचीन पाण्डुलिपियाँ छन्दोबद्ध हैं अत: छन्दःशास्त्र के सहारे इन छन्दों का, सन्दर्भानुसार रसौचित्य समझा जा सकता है। इसी प्रकार शब्दबोध में भी साहित्यशास्त्र सहायक होता है। पाण्डुलिपि में कौन शब्द अभिधा से, कौन लक्षणा या व्यञ्जना शक्ति से अर्थ दे रहा है ? यह साहित्यशास्त्र के अध्ययन से ही समझा जा सकता है।

पुस्तकालयविज्ञान (Library Science) हमें पाण्डुलिपियों के रख - रखाव तथा उनकी उपयोगविधि के विषय में शिक्षित करता है। शासकीयलेखविज्ञान (Deplomatics) मूलत: लिपिविज्ञान की ही एक अभिन्नशाखा है जो मात्र पट्टों, परवानो, दान - पत्रों एवं शासकीय अभिलेखों से सम्बद्ध है। अत: वह लिपि में ही अन्तर्भूत है।

प्राचीन भारत में न केवल पाण्डुलिपिविज्ञान का अपितु उससे जुड़े उपर्युक्त समस्त शास्त्रों एवं विषयों का भरपूर विकास हुआ। यद्यपि लेखनविधा का प्राचीनतम रूप हम मिस्रदेश के पिरामिडों पर पाते हैं। यूनानी इतिहासकार बोकह ने इन्हें ईसापूर्व सातवीं सहस्राब्दी का माना है। इन लेखों में, जो कि तेल अल - अमर्णा की खुदाई में उपलब्ध हुए हैं, मिस्र देश के प्राचीन अट्ठारह राजवंशों का ऐतिहासिक विवरण लिखित रूप में मिलता है।

परन्तु इस प्रामाणिक दस्तावेज के बाद भी हम यह नहीं कह सकते कि भारतीय लेखनकला मिस्रवासियों से अर्वाचीन है। महर्षि पाणिनि (ई०पू० ७वीं शती) की अष्टाध्यायी में लेखनकला से जुड़ी सामग्रियों एवं क्रियाओं के वाचक अनेक शब्द विद्यमान हैं। लिख् धातु, टंक् धातु, रच् धातु, रूप धातु, कथ् ब्रू वद् गद् व्याह एवंभण् धातु आदि का परिचय हमें पाणिनि के धातुपाठ में मिलता है। ये सारी धातुएँ लेखनकला से ही सम्बद्ध हैं। इसी प्रकार लेखनी, तूलिका, पट्ट, पीठ, पर्ण, सम्पुट, अक्षर, वर्ण, वाक्य, भाषा, वाङ्मय, साहित्य आदि सैकड़ों संस्कृत शब्द इस तथ्य के प्रमाण हैं कि भारतीयों को लेखनकला का ज्ञान मिस्रवासियों से भी पूर्व हो चुका था क्योंकि विश्व का प्राचीनतमग्रंथ वेद, स्वर्गीय बालगंगाधर तिलक (भारत) एवं हर्मन जैकोबी के अनुसन्धानानुसार प्रायः ६५०० वर्ष ईसापूर्व में ही लिखा जा चुका था।

चिरकाल तक भारतवर्ष में वेदविद्या का संरक्षण मौखिक परम्परा से होते रहने के कारण लेखनकला, सिद्धान्ततः ज्ञात होते हुए भी व्यवहार में, प्रभूत विलम्ब से आई। वह पिरामिडों के लेख जैसी प्राचीन तो नहीं ही है। यदि सिन्धुघाटी के उत्खनन से उपलब्ध लिपियों को अलग कर दिया जाय, तो संभवतः सम्राट अशोक (ई०पू० चौथी शती) के खरोष्ठी एवं ब्राह्मी लिपि में लिखवाये गये शिलालेख ही, भारतीय लेखनकला के प्राचीनतम प्रमाण माने जा सकते हैं।

वेदसंहिताओं की मौखिक अथवा वाचिक परम्परा अत्यन्त प्राचीन काल में विकसित हो गई थी। मंत्रों की आनुपूर्वी तथा मंत्र में विद्यमान पदों की आनुपूर्वी को यथावत् बनाये रखने के लिये ही विकृतियों का अविष्कार हुआ। पदपाठ के अनन्तर घनपाठ, जटापाठ, मालापाठ आदि उपायों (विकृतियों) के सहारे वेदमंत्रों को कण्ठस्थ किया जाता था। ये विकृतियाँ आज भी समूचे भारत में प्रचलित हैं। आज भी ऐसे वेदपाठी विद्वान् हैं भारत में जिन्हें इन्हीं विकृतियों के सहारे सम्पूर्ण वेदसंहिता कण्ठस्थ है। इस परम्परा को अक्षुण्ण रखने के लिये राष्ट्रीय संस्कृत संस्थान, नईदिल्ली (मानित विश्वविद्यालय) सान्दीपनि वेदविद्या प्रतिष्ठान, उज्जैन, वेद विश्वविद्यालय तिरुपति (आन्ध्रप्रदेश) तथा अन्यान्य स्वायत्तसेवी संस्थायें पूर्णतः प्रयत्नशील हैं। वेदविद्या - प्रतिष्ठान, उज्जैन ने अनेक स्वनामधन्य वेदपाठियों का वेदपाठ ध्वनिपट्टिकाओं (कैसेट्स) में सुरक्षित कर रखा है।

वेद - तिथिविषयक पूर्वोक्त प्रमाण के बाद कुछ विद्वानों की यह अवधारणा कि भारत में लेखनकला फारस से आई, महत्त्वहीन प्रतीत होती है।

लिपिशब्द का अर्थ एवं उसका क्रमिक विकास

संस्कृत की लिप् धातु से इप्रत्यय लगाकर लिपि शब्द निष्पन्न होता है। पाणिनीय धातुपाठ में लिप् धातु का प्रयोग लेपन के अर्थ में निर्दिष्ट किया गया है[1]।

लिप्ति: (लिप् + क्तिन्) लेप: (लिप् + घञ्) लेपनम् (लिप् + ल्युट्) लेपक: (लिप् + ण्वुल्) लेप्ता अथवा लेपयिता (लिप् + तृच् + णिच्) आदि शब्द भी लिप् धातु से ही निष्पत्र होते हैं। दूसरी बात यह कि इसी अर्थ में एक अन्य धातु का भी (लिम्प् धातु) प्रयोग मिलता है जो साहित्य में कम से कम ईसापूर्व चौथी शती का है। महाकवि भास ने अपने दरिद्रचारुद्रत्तम् नाटक में लिम्प् धातु का रमणीय प्रयोग किया है जिसे सातवीं शती ई० में आचार्य दण्डी ने अपने काव्यादर्श में उत्प्रेक्षालंकार के उदाहरण - रूप में उद्धृत किया है। प्रयोग इस प्रकार है –

लिम्पतीव तमोऽङ्गानि वर्षतीवाऽञ्जनं नभः।
असत्पुरुषसेवेव दृष्टिर्विफलताङ्गता ।।

मृच्छकटिक प्रकरण के लेखक शूद्रक (ई० दूसरीशती) ने भी इस श्लोक को दरिद्रचारुदत्तम् से, जैसा का तैसा आहत कर लिया है।

लिपि शब्द का क्या अर्थ हो सकता है ? यह विचारणीय विषय है। धार्मिक कर्मानुष्ठानों में जमीन को गाय के गोबर से लीपने की बात कही गई है जिसे 'गोमयोपलेप' कहते हैं। इसी प्रकार, किसी गन्दी या पुरानी दीवार को चूने से लेपने या पोतने की बात भी लोक में प्रचलित है जिसे 'सुधालेप' कहा जाता है। लीपना तथा पोतना - दोनों क्रियाएँ प्रायः समानार्थक हैं इसीलिये दोनों का युग्म - प्रयोग अथवा युगपत्प्रयोग भी मिलता है। जैसे आजकल मकान की 'लिपाई – पोताई' चल रही है। लेपने तथा पोतने से दीवार याभूमि की गन्दगी दब जाती है, उसका मूलरूप अदृश्य हो जाता है तथा एक नया रूप उभर आता है। इसीलिये 'लीपा – पोती' के रूप में इसका व्यङ्ग्यात्मक प्रयोग भी व्यवहार में होने लगा। जब कोई व्यक्ति अवान्तर तर्कों से मूलतथ्य को छिपाने - झुठलाने लगता है तो हम कहते हैं - अब लीपा - पोती करने में लगे हैं।

इस प्रकार लिप् धातु का आशय है - अभिप्रायों को वर्णाक्षरों के माध्यम से फैलाना (जमीन अथवा दीवार को गोबर अथवा चूने के रंग में रंगने के समान) अत: लिपि (Script) का तात्पर्य हो सकता है - अभिप्रायों की वर्णात्मक अभिव्यक्ति। अभिप्रायों को जब हम मुख से प्रकट करते हैं (Verbal Expression) तब भी वर्णाक्षरों के द्वारा ही प्रकट करते हैं, परन्तु तब इन वर्गों को लिखने अथवा अंकित करने की आवश्यकता नहीं होती। हम श्रावण प्रत्यक्ष (Audible Perception) से ही काम चला लेते हैं। परन्तु जब इन अभिप्रायों के चाक्षुष प्रत्यक्ष (Visible Perception) का सन्दर्भ आता है तब वर्णाक्षरों के माध्यम से इनका अंकित किया जाना अनिवार्य हो जाता है।

मानवीय - समाज मे लिपिकी परिकल्पना कब हुई ? प्राचीनतम लिपि कौन रही होगी ? लिपि के उद्भव एवं विकास का प्रामाणिक इतिवृत्त क्या है ? ये सारे प्रश्न संभवत: आज भी सन्देह के घेरे में ही हैं। विद्वानों ने शोधे की हैं, फिर भी हम उसे अन्तिम समाधान नहीं मान सकते। परन्तु जहाँ तक भारत का प्रश्न है, यहाँ तो एक निरक्षर ग्रामीण भी उस लिपि के बारे में अवश्य जानता है जो ब्रह्मा, प्रत्येक मनुष्य के ललाट पर, जन्म से पूर्व ही अंकित कर देता है। उसे ललाट लिपि, ललाट लेख, भाग्यलिपि, भाग्यलेख, अदृष्टलेख के नाम से जाना जाता है।

ऐसा माना जाता है कि प्रत्येक जीव (मनुष्य) का जीवनभोग स्रष्टा द्वारा उसके मस्तक पर अंकित रहता है। उसका सुख - दुख, यश - अपयश, लाभ - हानि, जीवन मरण सब अंकित हो जाता है उसके जन्म से पूर्व ही। यही भाग्यलिपि ' वैधसी लिपि ' भी कही जाती है। इस सन्दर्भ के समर्थन में असंख्य सुभाषित एवं साहित्यिक उदाहरण मिलते हैं।

वही वैधसी लिपि (भाग्यलिपि) भाषिक लिपि की आधारशिला है। जैसे विधाता मनुष्य के भाग्य को उसके भालपट्ट पर लिपिबद्ध करता है उसी प्रकार मनुष्य को भी, अपने अभिप्रायों की भाषिक अभिव्यक्ति के लिये लिपि की आवश्यकता पड़ी होगी। परन्तु प्रश्न यह है कि लिपि अस्तित्व में आई कैसे ?

इस सन्दर्भ में दो दृष्टियाँ हैं। एक दृष्टि तो है पाश्चात्य वैज्ञानिक डार्विन के विकासवाद का समर्थन करने वाली और दूसरी है दैवी सिद्धान्त का पोषण करने वाली। डार्विन का विकासवाद मानवसभ्यता को पाषाणयुग, लौहयुग, ताम्रयुग आदि से संक्रान्त हुई मानता है। इसी तरह मानवरूप प्राप्त करने से पूर्व भी वह मनुष्य को वानर, चिम्पाञ्जी, गुरिल्ला - वनमानुष आदि के रूप में स्थित मानता है। परन्तु दैवी सिद्धान्त की स्थापना यह है कि सृष्टि नित्य है। क्योंकि वेदों में भी कहा गया है कि महाविराट ने यह जगत् वैसा ही बनाया जैसा वह महाप्रलय से पूर्व में था - यथापूर्वमकल्पयत्।

जब भारतीय आर्षग्रन्थ - रामायण एवं महाभारत में विलक्षण दिव्यास्त्रों की प्रामाणिक चर्चा है, कुबेर (पुष्पक) कर्दम एवं साल्व (सौभ) के अद्भुत विमानों का विस्तृत वर्णन है, ऋग्वेद में सौ पतवारों से चलने वाली नाव का उल्लेख है (शतारित्रां नावम्) देवसेनानायक इन्द्र द्वारा असुरों के सौ लौह - दुर्गों को विनष्ट करने की गाथा वर्णित है - तो हम कैसे मान लें कि हमारा विकास किसी पाषाणयुग अथवा वानरों से हुआ है ? वस्तुतः डार्विन का सिद्धान्त एक मनगढन्त गल्प के अतिरिक्त और कुछ नहीं है।

चौथे अध्याय के प्रारंभ में हमने, भारत में लेखन - कला के विकास की प्रामाणिक समीक्षा करते हुए प्रभूत सूचनायें प्रस्तुत की हैं। महर्षि पाणिनि (ई०पू०. पाँचवी - सातवींशती) ने आनुक् प्रत्यय - विधान के सन्दर्भ में 'यवनानी लिपि' का संकेत किया है। महाकवि कालिदास (ई०पू० द्वितीयशती) ने भी उर्वशी, शकुन्तला तथा सेनापति पुष्यमित्र शुंग के पत्रलेखन का सन्दर्भ सविस्तर निरूपित किया है। सम्राट अशोक (ई ० पू ० चौथीशती) के शिलालेखों में भी 'लिपिकार' शब्द की चर्चा है।

इस प्रकार सुस्पष्ट है कि ई०पू० सातवीं से दूसरी शती के बीच भारत में लोग लिपि तथा लेखनकला - दोनों से विधिवत् परिचित थे। अत: हमें यह 'सिद्धान्त' मस्तिष्क से निकाल ही देना चाहिये कि लिपि एवं लेखन पाश्चात्त्य संस्कृति की देन है। ज्ञान के प्रत्येक उन्मेष को भारतेतर संस्कृति का योगदान मानने का एक फैशन चल पड़ा है भारतीय विद्वानों में, विशेषकर उनमें जो संस्कृतभाषा के ज्ञान से शून्य हैं। और यह सहज एवं स्वाभाविक भी है। क्योंकि कि विश्व की किसी भी प्राचीन संस्कृति से प्राचीनतर है भारतीय वैदिक संस्कृति जिसकी सारी उपलब्धियाँ मात्र (वैदिक एवं पाणिनीय) संस्कृत भाषा में सुरक्षित हैं। ऐसी स्थिति में, संस्कृतभाषा के ज्ञान से विरहित लेखक विवश हैं ग्रीक, लैटिन, सामी - हामी संस्कृतियों का 'वर्चस्व' स्वीकार करने के लिये। परन्तु ऐसा करके वे वस्तुतः लेखकीय अपराध तो कर ही रहे हैं, एक सीमा तक राष्ट्र की अवमानना के भी वे दोषी हैं।

पाण्डुलिपिविज्ञान नामक ग्रंथ के यशस्वी लेखक डॉ. सत्येन्द्र ने प्राचीन भारतीय लिपिलेखों को पढ़ने के सन्दर्भ में किये गये पाश्चात्य विद्वानों के सारस्वत श्रम का सांगोपांग विवरण दिया है[2]। सर्वप्रथम १७८५ ई० में चार्ल्स विल्किंस ने, जिन्होंने लॉर्ड वारेन हेस्टिंग्ज की प्रेरणा से सर्वप्रथम श्रीमद्भगवद्गीता का अंग्रेजी अनुवाद किया था, दीनाजपुर जिले में उपलब्ध तथा बंगनरेश राजा नारायणलाल के समय में उत्कीर्ण एक स्तम्भलेख को पढ़ा था। तभी से प्राचीन लिपिलेखों के पढ़ने एवं प्रकाशित करने की परम्परा चल पड़ी। अगले चरण में श्री राधाकान्तशर्मा (१७८५) जे०एच० हेटिंग्टन (१७८५) कर्नल जेम्सटॉड (१८१८-१८२३ तक) बी०जी० वेविंग्टन (१८२८) कैप्टन ट्रॉयर (१८३४ प्रयाग की समुद्रगुप्त - प्रशस्ति) डॉ० मिले (१८३७, प्रयाग - प्रशस्ति एवं स्कन्दगुप्त का भीतरी स्तम्भलेख) डब्ल्यू० एम० बॉथ (१८३४, वलभी के अनेक दानपत्र) जेम्स प्रिंसेप (१८३७-३८, एरन, अमरावती, गिरनार के स्तम्भलेख तथा द्वारलेख) ने प्राचीन लिपिलेखों को पढ़ने का उपक्रम आगे बढ़ाया।

जेम्स प्रिंसेप के अनन्तर जिन स्वनामधन्य पाश्चात्त्य एवं पौरस्त्य विद्वानों ने इस दिशा में स्मरणीय योगदान दिया उनके नाम हैं - जेम्स फर्ग्युसन, मार्खम किट्टो, एडवर्ड टॉमस, अलेक्जेण्डर कनिंघम, वाल्टर इलियट, मेडोज टेलर, स्टीवेन्सन, डॉ० भाऊदाजी, भगवान लाल इन्द्रजी, राजेन्द्र लाल मित्र।

उपर्युक्त विद्वानों ने जिन लेखों को पढ़ा उनके सन्दर्भ में तीन बिन्दु अत्यन्त महत्त्वपूर्ण हैं

(1) लिपिलेखों की उपलब्धि का क्षेत्र क्या था ?

(2) लिपिलेखों का आधार क्या था ?

(3) लिपियों का स्वरूप क्या था ? \

जहाँ तक क्षेत्र का प्रश्न है, ये लिपिलेख पश्चिम में अफगानिस्तान, उत्तर में नेपाल, पूर्व में बंगाल तथा दक्षिण में केरल तक व्याप्त थे। यदि सम्राट् खारवेल की खण्डगिरि - उदयगिरि में उपलब्ध हाथीगुम्फा प्रशस्ति उड़ीसा में मिली तो अनेक भारतीयग्रीक मुद्रायें अफगानिस्तान में मिली हैं। लिपिलेखों का आधार (Base) भी विविध प्रकार का है। ये लेख स्तम्भों, दरवाजों, मुद्राओं अथवा स्वतंत्र प्रस्तरशिलाओं पर लिखे गये हैं।

लिपियों का स्वरूप

लिपियों का स्वरूप भी परस्पर भिन्न है जिसके आधार पर इन्हें पृथक् नामों से बोधित किया जाता है - ब्राह्मी लिपि, खरोष्ठी लिपि, देवनागरी लिपि। इन प्राचीनलिपियों के अतिरिक्त नेपाल की नेवारी लिपि, काश्मीर की शारदालिपि, दक्षिणभारत की पल्लव तथा ग्रन्थ लिपि भी अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। प्राचीनता की दृष्टि से प्रथम तीन लिपियों का महत्त्व सर्वाधिक है, अतएव इनका अपेक्षित परिचय दिया जा रहा है।

(क) बाह्मी लिपि -

सम्राट अशोक के शिलालेखों तथा जोगीमारा गुफाओं में जिस लिपि का प्रयोग किया गया है उसे ब्राह्मी कहते हैं। वस्तुत: इसी को समस्त उत्तरवर्ती (परिष्कृत) लिपियों की जननी माना जाता है। इस लिपि का सर्वप्रथम परिचय विद्वानों को १७ ९ ५ ई० में मिला। परन्तु ग्रीक तथा रोमन अक्षरों के साथ इसके आंशिक साम्य के कारण, इसके पृथक् अस्तित्व पर शोधकर्ताओं का सन्देह बना रहा। सर चार्ल्स मैलेट ने १७ ९ ५ ई० में ही ऐलोरा गुफाओं के ब्राह्मी लिपिलेखों को पढ़वाने का भरपूर प्रयत्न किया। इस सन्दर्भ में अनेक प्रवञ्चनात्मक घटनायें भी घटीं[3], परन्तु १८३३ ई० में अन्तत: प्रिंसेप महोदय के प्राणपणात्मक प्रयत्न के बाद 'ब्राह्मीलिपि' के स्वरूप का यथार्थ बोध विद्वानो को हो पाया।

ब्राह्मीलिपि, देवनागरी तथा रोमन की ही तरह बायें से दायें लिखी जाती है। व्युहलर महोदय ने ब्राह्मी को दायें से बायें लिखे जाने का मत प्रतिपादित किया था। उनका यह मत सम्राट अशोक के एक लिपिलेख (येरगुडी, मद्रास) पर आधारित था। इसी प्रकार कनिंघम महोदय ने भी जबलपुर (म० प्र०) के एक सिक्के में ब्राह्मी को दायें से बायें लिखी सिद्ध किया है।

परन्तु ये दृष्टान्त क्वाचित्क तथा आकस्मिक ही माने गये हैं। सच यही है कि ब्राह्मीलिपि बायें से दायें ही लिखी जाती है जैसा कि जोगीमारा गुफा की गाथा में सुस्पष्ट है, जो इस प्रकार है –

आदिपयन्ति हृदयं सभावगरुका कवयो एतितियं।
दुले वसन्तिया हि सावानुभूए कुन्दस्ततं एवमालंगति॥

अशोककालीन ब्राह्मीलिपि की वर्णमाला इस प्रकार है-

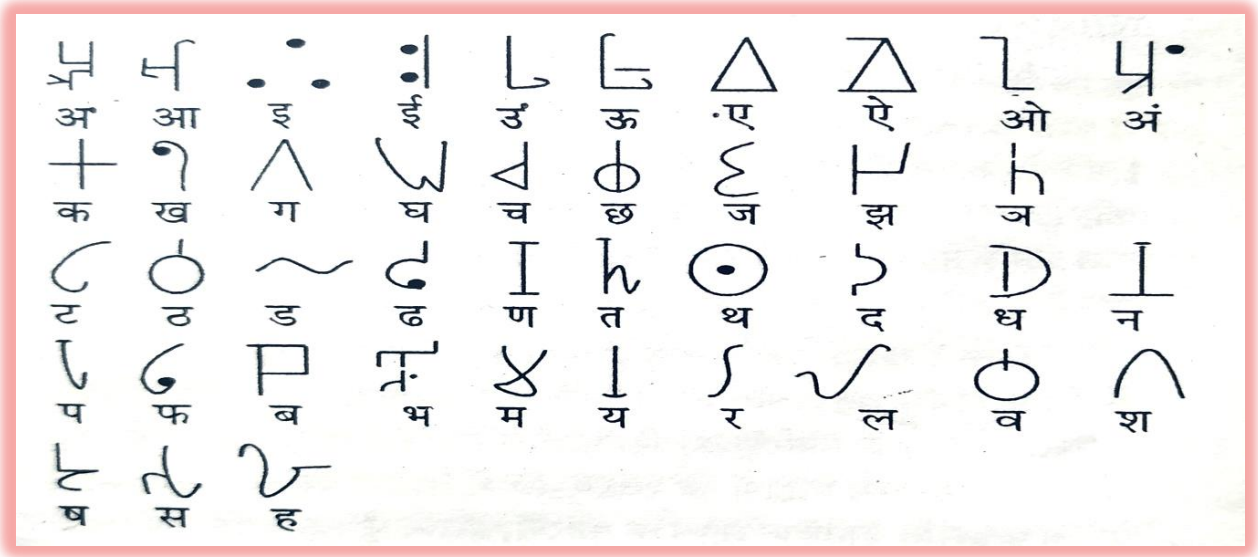

(ख) खरोष्ठी लिपि[4] –

खरोष्ठी लिपि का प्रचलन भी ई० पू० तीसरी - चौथी शती में भारत के पश्चिमोत्तरभाग में था। सम्राट अशोक के शहबाजगढ तथा मानसेहरा अभिलेखों में तथा अनेक शकक्षत्रपों तथा कुषाणवंशी नरपतियों की मुद्राओं में खरोष्ठी
लिपि में ही लेख अंकित हैं। इसी प्रकार पार्थियन, वैक्ट्रियन, ग्रीक राजाओं की मुद्राओं तथा अनेक बौद्ध लेखों में भी खरोष्ठी का प्रयोग है।

खरोष्ठी लिपि के सन्दर्भ में अत्यन्त विस्तृत एवं प्रामाणिक विवरण डॉ० सत्येन्द्र ने पाण्डुलिपिविज्ञान में एकत्र किया है। इस विवरण में उन सारी कठिनाइयों का रोचक उल्लेख भी है जो खरोष्ठी लिपि के प्रत्यभिज्ञान में उत्पन्न हुई थीं। कर्नल टॉड ने वैक्ट्रियन् ग्रीक शक कुषाण तथा पार्थियन शासकों की मुद्राओं का वृहत् संग्रह एकत्र किया था जिनमे एक ओर ग्रीक लिपि में तथा दूसरी ओर खरोष्ठी में लेख उत्कीर्ण थे। ग्रीक अक्षरों की पहचान तो सरलता से हो गई। परन्तु खरोष्ठी लिपि के बारे में कठिनाइयाँ बनी रहीं। कर्नल टॉड ने १८२४ ई० में सम्राट् कैडफिशस् के

सिक्कों पर खुदे इन खरोष्ठी अक्षरों को 'ससेनियन्' अक्षर बताया। इसी प्रकार प्रिंसेप महोदय ने भी सन् १८३३ में सम्राट् अपोलोडोटस् के सिक्कों पर उत्कीर्ण इन्हीं खरोष्ठी अक्षरों को 'पहलवी' अक्षर स्वीकार किया।

सन् १८३० में जनरल वेंटुराँ ने मानिकिआल स्तूप का उत्खनन कराया तो उसमें भी खरोष्ठी - अंकित प्रभूतं मात्रा में सिक्के तथा दो स्वतंत्र लेख प्राप्त हुए। अलेक्जेण्डर कनिंघम तथा बन्स आदि विद्वानों को भी ऐसे अनेक सिक्के मिले जिनमेंएक ओर तो सुवाच्य ग्रीकाक्षर थे, परन्तु दूसरी ओर एक अपरिचित लिपि थी।

इस प्रकार, चिरकाल तक खरोष्ठी की पहचान को लेकर विद्वज्जगत् में शंका सन्देह का वातावरण बना ही रहा। खरोष्ठी को पहचानने का प्रयत्न चलता ही रहा। अन्तत: १८३८ ई० में प्रिंसेप, कनिंघम एवं नॉटिस के समवेत प्रयत्न से खरोष्ठी के समस्त वर्णों की पहचान हो गई और इस लिपि के विषय में निम्नलिखित सर्वसम्मत निर्णय सामने आये

(1) खरोष्ठी आर्येतर परिवार की लिपि है। वस्तुत: यह सेमेटिक परिवार से सम्बद्ध आर्मेइक लिपि की उपज है।

(2) यह लिपि फारसी की तरह, दायें से बायें लिखी जाती है।

(3) भारत में उपलब्ध खरोष्ठी के लिपिलेखों में प्रयुक्त भाषा, ब्राह्मी की ही तरह प्राकृत भाषा है, पहलवी नहीं। वस्तुतः खरोष्ठी लिपि में लिखे लेख पाली भाषा के हैं। यह निश्चय प्रिंसेप महोदय ने तब किया जब १८३८ ई० में उन्हें कुछ बैक्ट्रियन - ग्रीक सिक्कों पर पाली का लेख मिला। इसी के साम्य पर उन्होंने यह निश्चय किया कि ग्रीक तथा खरोष्ठी - उभयलिपि - मण्डित सिक्कों में भी खरोष्ठी के लेख पाली के ही होंगे। उनकी यह धारणा एकदम सही निकली।

खरोष्ठी लिपि की वर्णमाला का स्वरुप इस प्रकार है –

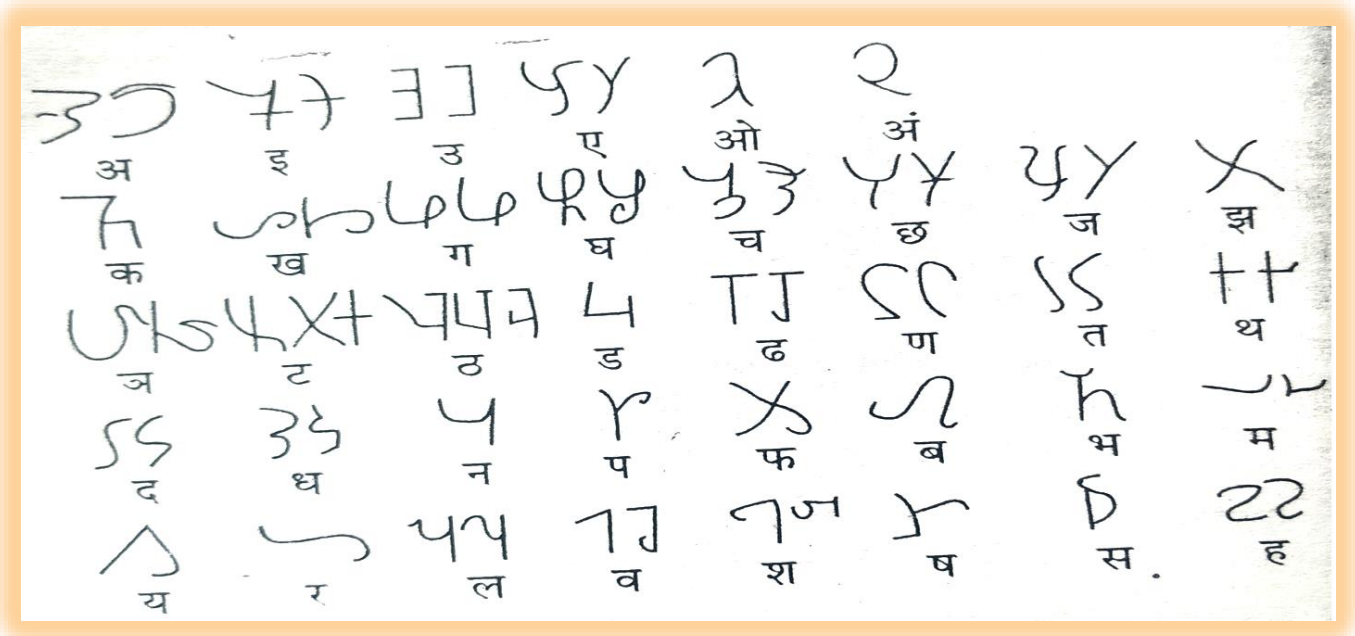

(ग) देवनागरी लिपि –

देवनागरी अथवा नागरी लिपि वही है जो वर्तमान संस्कृतभाषा में तथा अन्यान्य भारतीय प्रान्तीय भाषाओं (मराठी, गुजराती आदि) में उपलब्ध एवं प्रयुक्त हो रही है। डॉ० सत्येन्द्र ने विकास की दृष्टि से देवनागरी लिपि की भी तीन अवस्थाओं का उल्लेख किया है

(1) गुप्तलिपि (गुप्तकाल, ई० पू० ५०० से ३५० ई० तक)।

(2) कुटिल लिपि (छठी से दसवीं शती ई० तक)।

(3) देवनागरी (दसवीं शती ई० के अनन्तर)।

सम्राट अशोक के अधिकांश मैदानी लिपिलेख गुप्तलिपि में ही लिखे गये हैं। वस्तुत: देवनागरी लिपि की उपर्युक्त तीनों स्थितियाँ उसकी सुडौलता को लेकर कल्पित की गई हैं। वर्तमान देवनागरी में कुल ४२ वर्ण हैं

अ (आ) इ (ई) उ (ऊ) ए ऐ ओ औ (अंअः)
ऋ (ऋ) ळ = नौ स्वर।
क ख ग घ ङ च छ ज झ ञ
ट ठ ड ढ ण त थ द ध न
प फ ब भ म = 24 स्वर व्यंजन
य र ल व श ष स ह (क्ष त्र ज्ञ)
अन्तः स्थ एवं ऊष्म व्यंजना

भारतवर्ष की इन तीन प्रमुख लिपियों के अतिरिक्त अन्य प्रचलित लिपियाँ (नेवारी, ग्रन्थ, शारदा, कन्नड़, तेलुगु, मलयालम, तमिल, गुरुमुखी, बंगाली, असमी, उड़िया आदि) परवती कालखण्ड की हैं। इनमें से अधिकांश भाषादृष्ट्या संस्कृत से तथा लिपिदृष्ट्या देवनागरी से प्रभावित हैं। बौद्ध ग्रंथ ललितविस्तर में जिन चौसठ लिपियों का उल्लेख मिलता है उनमें प्रथम एवं द्वितीय अर्थात् ब्राह्मी और खरोष्ठी तो वही हैं, जिनका ऊपर परिचय दिया गया है। मनुष्यलिपि अथवा देवलिपि को देवनागरी माना जा सकता है। द्राविड, कनारी, बंग, दक्षिण, को हम तमिल, कन्नड, बँगला तथा मलयालम से समीकृत कर सकते हैं। दरदलिपि काश्मीरी भाषा की हो सकती है। नाग, यक्ष, गन्धर्व, देव, किन्नर, महोरग, असुर, गरुड तथा मृगलिपियाँ क्रमश: तत्तत् देवयोनियों एवं पक्षियों (गरुड) एवं पशुओं की मानी जा सकती हैं। चीन तथा हूण लिपियाँ चीनी तथा हूण भाषा की हो सकती हैं। इस समवाय में परिगणित अन्य अनेक लिपियाँ या तो कल्पना मात्र हैं (जैसे चक्रलिपि, वायुमरुलिपि, भौमदेव लिपि, अन्तरिक्षदेवलिपि, उत्तरकुरुद्वीप लिपि, अपरगौडादि लिपि आदि) या फिर लिपि न होकर मात्र लेखन - विधियाँ हैं। जैसे - निक्षेप लिपि, विक्षेप लिपि, प्रक्षेप लिपि, अध्याहारिणी लिपि, विमिश्रित लिपि आदि।

लिपियाँ, विश्व के किसी भी भाग अथवा राष्ट्र की हों, लेखन की दृष्टि से तीन ही प्रकार की पाई गई हैं

(1) बायें से दायें - देवनागरी, रोमन आदि।

(2) दायें से बायें - अरबी, फारसी, उर्दू तथा अन्यान्य सामी भाषायें।

(3) ऊपर से नीचे - चीनी भाषा।

अधिकांश विद्वानों का मन्तव्य है कि लिपियों का निर्माण अत्यन्त लम्बी प्रक्रिया के अनन्तर ही सम्भव हो सका होगा। डार्विन के विकासवाद का दम भरने वाले लोग, जो प्रत्येक विकास का आरम्भ शून्य (Nothingness) से स्वीकारते हैं, उनकी यही सोच है कि असभ्य वनमानव ने पहले संकेतों तथा चेष्टाओं से काम चलाया होगा। अगले चरण में उसने चित्रों के माध्यम से अपना भाव व्यक्त करना सीखा होगा और अन्तत: इन्हीं चित्रों से लिपि का उद्भव हुआ होगा। इस प्रकार की चित्रात्मक भाषा के सजीव प्रमाण हमें इन्का जाति की संस्कृति (मेक्सिको) तथा भारत में समान रूप से मिलते हैं। विक्रम विश्वविद्यालय के इतिहास - प्रोफेसर डॉ० वाकणकर ने, जिन्हें प्राचीन द्वारका के अवशेषों को प्रकाश में लाने का श्रेय प्राप्त है, होशंगाबाद के पास गहन अरण्यों में 'भीमवेटका' के गुहाचित्रों की खोज की थी, जिन्हें देखने का सुयोग इस लेखक को भी प्राप्त हुआ है। यह स्थान पाण्डवों के अज्ञातवास का स्थल माना जाता है।

भीमवेटका यानी भीम का बैठका (भीम की विश्रामस्थली) यहाँ पर्वतशिलाओं कोप्रकृति ने एक - दूसरे से इस प्रकार सम्पृक्त किया है कि उनके भीतर एक प्राकृतिक, हवादार कक्ष बन गया है। इस कक्ष की दीवारों पर अनेक चित्र उत्कीर्ण हैं। कुछ ज्ञात तथा कुछ काल्पनिक। यह कहना कठिन है कि ये चित्र चित्रमात्र हैं अथवा चित्रों के माध्यम से उत्कीर्ण कोई रहस्यमयी भाषा है। यदि यह भाषा है तो निश्चय ही इसे चित्र लिपि माना जा सकता है।

मानवजाति आज ज्ञान - विज्ञान तथा यान्त्रिक अभ्युनति के शिखर पर है। विज्ञान ने आज मनुष्य को चन्द्र - धरातल पर भेजने का स्वप्न पूर्ण कर लिया है। अनेक समर्थ उपग्रह मंगल एवं बृहस्पति जैसे ग्रहपिण्डों के भी रहस्यों को या तो जान गये हैं या फिर जानने में लगे हैं। तथापि

मनुष्य को भविष्य के गर्भ में विलीन उन रहस्यों को जानने में सफलता नहीं ही मिल पाई है जो भारतीय साधकों को मात्र अपने अतीन्द्रिय ज्ञान (Transcendental Knowledge) अध्यात्म विद्या एवं तपश्चर्या से प्राप्त हुआ था। पाश्चात्त्य विद्वानों के पास आज भी, भारतीयों की इस उपलब्धि की कोई विवेकसम्मत व्याख्या नहीं है कि गंगा और तमसा के संगम पर (मेजा तहसील, इलाहाबाद, उ० प्र०) बैठ कर रामायण की रचना करने वाले महर्षि वाल्मीकि को बृहत्तर भारत के द्वीपों की भौगोलिक स्थिति का ज्ञान कैसे हुआ ? उल्लेखनीय है कि वाल्मीकिरामायण का यह सन्दर्भ इतना प्रामाणिक, सटीक एवं विश्वसनीय है कि आश्चर्य होता है।

(घ) शारदा लिपि –

शारदा लिपि मूलत: काश्मीर - क्षेत्र में प्रचलित थी। प्रत्येक लिपि के नामकरण की पृष्ठभूमि में कुछ न कुछ रहस्य विद्यमान है। खरोष्ठी के सन्दर्भ में हमने यह देखा है कि खर (गर्दभ) के ओष्ठ की तरह टेढ़ी - मेंढ़ी (विरूप) होने के कारण ही संभवत: उसे खरोष्ठी कहा गया। बौद्धग्रंथ ललितविस्तर में देवलिपि का उल्लेख मिलता है। यह नामकरण सिद्ध करता है कि यह लिपि देवों को प्रिय रही होगी। संभवत: इसी को कालान्तर में देवनागरी भी कहा गया। इसी प्रकार 'ब्राह्मी' नामकरण, उस लिपि की विशेषता को प्रकट करती है कि वह ब्रह्म अर्थात् विद्वज्जनों को प्रिय रही होगी।

अनेक लिपियों का नामकरण उनके प्रयोग - क्षेत्र अथवा उद्भव - क्षेत्र पर आधारित रहा है जैसे नेवारी लिपि का अर्थ है कि नेवार (नेपाल) की लिपि। सिन्धुलिपि का अर्थ है कि सिन्धुक्षेत्र की लिपि। पल्लवलिपि का अर्थ है पल्लव - साम्राज्य (काञ्ची - क्षेत्र) क्षेत्र की लिपि।

शारदालिपि का नामकरण भी इसके प्रयोगक्षेत्र अथवा उद्भवक्षेत्र पर ही आधारित है। पौराणिक वाङ्मय तथा प्राचीन साहित्यिक ग्रंथों में काश्मीर को शारदादेश कहा गया है । महाकवि विल्हण (११ वीं शती ई०) जो स्वयं काश्मीर के निवासी थे, ने अपने महाकाव्य विक्रमाङ्कदेवचरित (प्रथम सर्ग) में इस तथ्य का उल्लेख किया है -

सहोदरा: कुङ्कुमकेसराणां भवन्ति नूनं कवितावि‍लासाः ।
न शारदादेशमपास्य दृष्टस्तेषां यदन्यत्र मया प्ररोहः ॥

-विक्रमा ० १।२१

यही शारदादेश काश्मीर भी कहा गया है। वस्तुत: शारदा - देश कहने का रहस्य यह है कि काश्मीर में भगवती सरस्वती (शारदापीठ) की प्रतिष्ठा सर्वोपरि थी। सम्पूर्ण भारत के विद्वान्, कवि तथा पण्डित शारदा - पीठ आया करते थे अपने ग्रंथों की गुणवत्ता - परीक्षा के लिये। आज भी यह शारदापीठ अत्यन्त जीर्ण - शीर्ण तथा हतभाग्य (श्रीहीन) स्थिति में पाकअधिकृत काश्मीर के मुजफ्फराबाद जनपद में विद्यमान है।

इसी शारदादेश की लिपि होने के कारण उस लिपि को शारदा लिपि कहा गया। ललितविस्तर में जिस दरदलिपि (Dardic Script) का उल्लेख है संभवत: वह भी शारदालिपि ही हो। आज इस लिपि के दो भिन्न रूप मिलते हैं

(1) जम्मू - काश्मीर क्षेत्र की शारदालिपि।

(2) गिलिगत - क्षेत्र की शारदालिपि।

शारदालिपि का स्वरूप क्या है ? अब इस तथ्य पर प्रकाश डाला जा रहा है। शारदालिपि में कुल १२ स्वर तथा ३३ व्यञ्जन हैं जिनका स्वरूप इस प्रकार है –

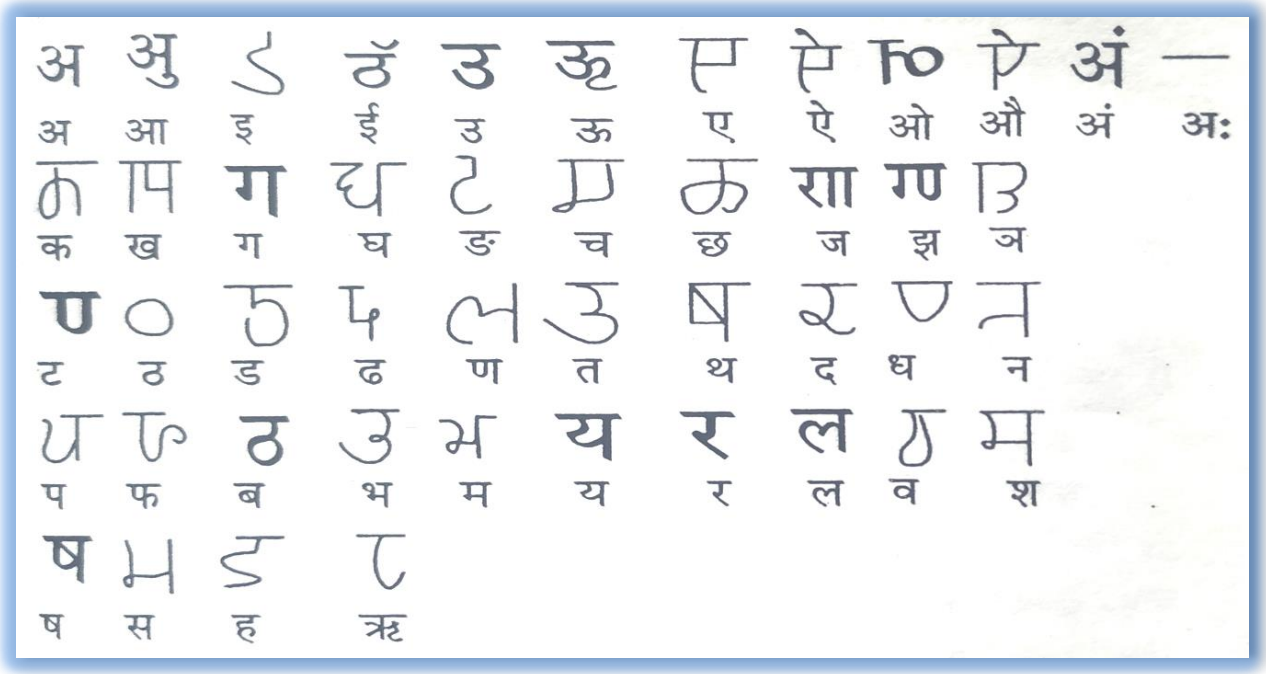

वर्तमान जम्मू - काश्मीर क्षेत्र की अधिकांश प्राचीन पाण्डुलिपियाँ शारदा लिपि में ही लिखी प्राप्त होती हैं। शिमला (हि० प्र०) के पाचवतों उपनगर मशोबरा में निवास करने वाले संस्कृत के अनन्य सेवक तथा विद्धमूर्धन्य राष्ट्रपति - सम्मानित आचार्य दिवाकरदत्त शर्मा के व्यक्तिगत संग्रह में शारदातिपि - मण्डित अत्यन्त मूल्यवान् ग्रंथ सुरक्षित हैं। आचार्यश्री ने मुझे स्वयं गिगित - क्षेत्र को शारदालिपि में लिखी शालिहोत्र विषयक एक पाण्डुलिपि देखने को दी जो पूर्णतः सुरक्षित थी।

सिन्धुसभ्यता लिपि –

विज्ञान के दर्द को अकिञ्चित्करता का ही एक जीता जागता निदर्शन है सिन्धुसभ्यता का लिपि विषयक अज्ञाना सारा विश्व आज संगणकीय शक्तिमत्ता का दम भरता है फिर भी सिन्धुघाटी की सभ्यता (मोहोदड़ो, हड़प्पा तथा अन्यान्य स्थल) में प्रयुक्त लिपिलेख को अभी भी कोई पाचात्य अथवा पौरस्त्य विद्वान् यथार्थतः पढ़ नहीं सका है। हाँ, यह अवश्य हुआ है कि पाचात्य विद्वानों ने सिन्धुसभ्यता को आर्येतर अथवा द्रविड सभ्यता मान कर समूचे भारत को भावनात्मक स्तर पर खण्डित एवं विभक्त करने का दुधक अवश्य चलाया। परन्तु अधिकांश विद्वानों ने इस नस्लवादी विदेषात्मक दृष्टिकोण का घोर विरोध किया है।

डॉ० सत्येन्द्र ने इस सन्दर्भ में डॉ० नीलकण्ठ शास्त्री (भारतीय) ए० एल० बाशम (पाश्चात्त्य) के मतों को उद्धृत किया है। प्रसिद्ध इतिहासकार डॉ. नीलकण्ठ शासी लिखते हैं - आर्य तथा द्रविड का जाति सूचक पद के रूप में प्रयोग, नृवंशशास के प्रज्ञावान् छात्रों के लिये सर्वथा अज्ञात है (आर्यों एवं द्रविडो के बीच सांस्कृतिक सम्बन्ध)।

ए० एल० बाशम लिखते हैं - न तो कोई द्रविड जाति है और न ही आर्य (बुलेटिन ऑफ दि इन्स्टीटयूट ऑफ हिस्टॉरिकल रिसर्च, १ ९ ६३, मद्रास, भाग -२)।

वस्तुत: सिन्धुघाटी की सभ्यता को द्रविड सभ्यता घोषित करने वाले तथा आर्यों को भी मध्येशिया से आक्रान्ता के रूप में भारत में आने वाला, बताने वाले सारे विद्वान् विदेशी ही हैं, भारतीय एक भी नहीं। जब कि इस निराधार अवधारणा का कोई औचित्य नहीं है। इस सन्दर्भ में महान् इतिहासविद् डॉ० राजबली पाण्डे का मन्तव्य निश्चय ही अभिनन्दनीय है जिसे विस्तारपूर्वक प्रो० सत्येन्द्र जी ने समीक्षित किया है।

प्रो० सत्येन्द्र, सिन्धु - लिपि के विषय में तीन प्रमुख विकल्प प्रस्तुत करते हैं जो मननयोग्य हैं। वे इस प्रकार हैं

(1) पहला, पृष्ठभूमि, इतिहास, परम्परा आदि की दृष्टि से एक ओर यह माना गया कि यह आर्यों के भारत में आने से पूर्व की संस्कृति की लिपि है। आर्य - पूर्व भारत में द्रविड थे, अत: यह द्रविड - सम लिपि है और द्रविड - सम भाषा की प्रतीक है।

(2) दूसरा विकल्प यह रहा कि आर्यों से पूर्व या ४००० ई० पू० यहाँ सुमेर लोग निवास करते थे और यह उन्हीं की लिपि है।

(3) तीसरा विकल्प यह कि इस क्षेत्र के निवासी आर्य या उन्हीं की एक शाखा के 'असुर' थे। यह उन्हीं की भाषा और लिपि है।

सिन्धुलिपि - विषयक डॉ० सत्येन्द्र के ये विकल्प अनेक विद्वानों की शोधपूर्ण खोजों तथा उनके निष्कर्षों पर आधारित हैं जिनका विस्तृत व्याख्यान स्वयं उन्होंने ही किया है। जी० आर० हंटर महोदय (द स्क्रिप्ट ऑफ हड़प्पा एण्ड मोहञ्जोदड़ो एण्ड इट्स कनेक्शन विद अदर स्क्रिप्ट्स) का समुद्धृत मत इस प्रकार है

"इससे कोई भी इसी निष्कर्ष पर पहुँचेगा कि यह मान्यता बलवती ठहरती है कि हमारी लिपि, कुछ तो मिस्र से ली गई है और कुछ मेसोपोटामिया से। किंबहुना, एक अच्छे अनुपात में ऐसे चिन्ह भी हैं जो तीनों में समान है जैसे - वृक्ष, मछली, चिड़िया आदि के चिन्ह। किन्तु ऐसा होना सम - आकस्मिक (Concidental) है, और अनिवार्य भी है क्योंकि लिपि की प्रवृत्ति चित्रात्मक है"।

हण्टर महोदय यह संभावना भी प्रस्तुत करते हैं कि संभव है मिस्री, प्रोटोएलामाइट तथा सिन्धुघाटी - इन तीनों ही लिपियों की जनक या मूल कोई चौथी भाषा - लिपि रही हो, जो इनसे भी पूर्ववर्ती हो।

श्री कृष्णराव तथा डॉ० फतेह सिंह, उन भारतीय विद्वानों में शीर्षस्थ हैं जिन्होने सिन्धुलिपि के सन्दर्भ में अथक परिश्रम किया है। इन दोनों का मंतव्य है कि सिन्धुलिपि ब्राह्मीलिपि का पूर्वरूप है तथा इसकी भाषा भी प्राग्वैदिक संस्कृत ही है।

डॉ० राजबली पाण्डे का निष्कर्ष यह है कि निश्चय ही सिन्धुघाटी की लिपि का जन्म भारत में ही हुआ और यहीं से वह सुमेर एवं मिस्र की ओर गई। वहाँ इस लिपि का प्रभूत विकास हुआ।

डॉ० पाण्डे यह भी मानते हैं कि या तो आर्य लोग (स्वयम्) अथवा उनके असुर नाम के बन्धुओं ने सिन्धु लिपि का निर्माण किया। वे ही उसे पश्चिम एशिया तथा मिस्र में ले गये (इण्डियन पेलियोग्राफी, पृ० ३४)।

वस्तुत: मिस्र की चित्रलिपि, सुमेरलिपि का भारतीय ब्राह्मी लिपि के साथ प्रभूत साम्य है। इससे यह कल्पना की गई कि मिस्र एवं सुमेर लिपियों ने ब्राह्मी से शब्दों एवं वर्णों को उधार लिया। यह पारस्परिक आदान - प्रदान अथवा अधमर्णता - उत्तमर्णता असंभव नहीं है क्योंकि ऐतिहासिक परम्पराओं से भी इसका समर्थन होता है। मास्पियर तथा स्मिथ ने कहा है कि मिस्र सभ्यता के निर्माता पश्चिमी एशिया से ही मिस्र को गये थे। हेरोडोटस ने लिखा है कि फोनेशियन लोग समुद्रयात्रा - दक्ष तथा स्वसंस्कृति - प्रसारक लोग थे। वे त्यर में उपनिवेश बना कर रहते थे जो पश्चिमी एशिया का विशाल बन्दरगाह था। सी० एल० वाली ने लिखा है कि स्वयं सुमेरियन लोग भी, समुद्र के रास्ते बाहर से आकर, सुमेरिया में बसे थे (दि सुमेरियन्स, पृ० १८ ९)।

पार्जिटर महोदय ने भी लिखा है भारतीय पुराणों तथा महाकाव्यों में दी गई प्राचीन ऐतिहासिक परम्पराओं के अनुसार आर्य जातियाँ उत्तर - पश्चिम भारत से उत्तर तथा पश्चिम की ओर गई थीं[5]।

पाण्डुलिपि का अर्थ एवं क्रमिक विकास

पाण्डुलिपि का अर्थ है हस्तलेख। लैटिन भाषा में इसे मैन्यूस्क्रिप्ट (Manuscript) कहा जाता है। यह शब्द मैन्यू तथा स्क्रिप्ट - इन दो शब्दों के योग से बना है, जिसका अर्थ है हाथ की लिखावट। सामान्यत: किसी भी अप्रकाशित लेख को पाण्डुलिपि अथवा मैन्यूस्क्रिप्ट कहा जाता है। यही लेख कालान्तर में शिला, स्तम्भ, ताम्र, मूर्ति, भित्ति अथवा गुहा आदि में लिखे जाने के कारण शिलालेख, स्तम्भलेख, ताम्रलेख, मूर्तिलेख, भित्तिलेख एवं गुहालेख आदि रूपों में प्रतिष्ठित हुआ। परन्तु सामान्यत: इसे अभिलेख ही कहा जाता है।

विश्व की विभिन्न प्राचीन नष्ट अथवा बची हुई संस्कृतियों में ये विविध प्रकार के आलेख आज भी उपलब्ध होते हैं। इन पाण्डुलिपियों के अनेक दुर्लभ प्रमाण यत्र - तत्र संग्रहालयों में भी सुरक्षित हैं जिनका परिचय आगे यथावसर दिया जायेगा।

दि अमेरिकन पीपुल्स इन्साइक्लोपीडिया के पृ० १७५ पर पाण्डुलिपि को परिभाषित करते हुए कहा गया है कि

In Archaeology manuscript is any early writing on stone, metal, wood, clay, linen, bark and leaves of trees and prepared skins of animals, such as goat, sheep and calves.

अर्थात् पुरातत्त्वविज्ञान में पाण्डुलिपि उस किसी भी प्राचीन लेख को कहते हैं जो पत्थर, धातु, लकड़ी, मिट्टी, शणनिर्मित वस्त्र, पेड़ की छाल, वृक्षों की पत्तियों तथा बकरे, भेड़ एवं बछड़ों जैसे जानवरों की कमाई गई चमड़ी पर लिखा गया हो।

विश्वकोष की इस परिभाषा से पाण्डुलिपि का पारिभाषिक स्वरूप स्पष्ट हो जाता है। परन्तु यदि लेखन - विकासक्रम की दृष्टि से देखा जाय तो स्पष्ट हो जाता है कि पाण्डुलिपियाँ अथवा अभिलेख सर्वप्रथम गुहाभित्तियों पर लिखे गये। तदनन्तर पाषाणशिलाओं, स्वतंत्र (एवं पृथक्) शिलाफलकों, मृत्तिका - निर्मित ईंटों, काष्ठफलकों, चर्मफलकों, शणनिर्मित वस्त्रों, वृक्ष की छालों, पत्तियों, तथा अन्तत: घासनिर्मित कागजों (पेपीरस)[6] पर लिखे गये। इस सन्दर्भ में विस्तृत सामग्री अगले पाठ में प्रस्तुत की जायेगी।

पाण्डुलिपिविषयक भारतीय साक्ष्य

पाण्डुलिपिविषयक भारतीय साक्ष्यों को जानने से पूर्व हमें उन साक्ष्यों को भी जान लेना चाहिये, जो विश्व के अन्य भागों में उपलब्ध हुए-

(क) गिजेह में पेपीरस पर लिखी पाण्डुलिपियाँ मिली हैं जिनकी तिथि २५०० वर्ष ई० पूर्व है।

(ख) मिस्रदेश (Egypt) में तेल - अल - अमर्णा के उत्खनन में अमन होतप तृतीय के विवरण पेपीरस पर मिले हैं जो ई० पूर्व १४०० के हैं।

ब्रिटिश संग्रहालय (लण्डन) में भी १३३ फुट लम्बा एक पेपीरस सुरक्षित है जिसकी प्राचीनता निश्चित नहीं है। यह पेपीरस खरीते (Seroll) के रूप में विद्यमान है।

(ग) विन्हेवेह (असीरिया) में वहाँ के शासक असुरवेनीपाल की १०,००० लेखांकित ईंटें मिली हैं जो ई० पू० ६०० की हैं।

इसी प्रकार की मिट्टी की ताबीजें (Clay - tablets) मोहनजोदड़ो (सिन्धुघाटी) तथा मलेशिया (प्राचीन कटाहद्वीप) बाली में भी मिली हैं जिनकी तिथि ई० पू० तीसरी सहस्राब्दी से ईसा की प्रारंभिकशती तक है।

(घ) एक ऐतिहासिक साक्ष्य के अनुसार ई० पू० ४१ में मार्क एण्टोनी ने पर्गेमम पुस्तकालय के दो लाख पेपीरस (Scrolls) मिस्र की महारानी क्लियोपेट्रा को उपहार - स्वरूप दिये थे जिन्हें अलेक्जेण्ड्रिया के पुस्तकालय में सुरक्षित रखा गया था।

इस प्रकार विभिन्न पदार्थों पर अंकित पाण्डुलिपियों का इतिहास ई० पू० २५०० से ई० पू० ४१ तक व्याप्त मिलता है।

इस तथ्य को दृष्टि में रख कर यदि हम पाण्डुलिपिविषयक भारतीय साक्ष्यों पर दृष्टि डालें तो हमें आश्चर्य होगा। क्योंकि भारतीय साक्ष्य अत्यन्त तात्त्विक, धीर - गंभीर तथा वैज्ञानिक सिद्ध होते हैं।

बौद्धवाङ्मय के प्रमुख धर्मग्रंथ विनयपिटक में लेखन की प्रशंसा की गई है। महावग्ग तथा जातककथा में भी पिता की इच्छा का उल्लेख करते हुए पोथक शब्द का दो बार प्रयोग किया गया है जो पोथी या ग्रंथ का अर्थ देता है।

साँची के स्तूप (मध्यप्रदेश में भोपाल तथा विदिशा के मध्य स्थित साँची कस्बे के पास) में भी लेखक शब्द का प्रयोग है जिसका अनुवाद प्रसिद्ध पाश्चात्य विद्वान् व्युहलर ने Copyist के रूप में किया है। इससे स्पष्ट है कि उस युग में लेखकों का स्वतंत्र अस्तित्व था।

कालान्तर में यही लेखक कायस्थ के रूप में प्रतिष्ठित हुए समाज में। शूद्रकप्रणीत प्रकरण मृच्छकटिकम् (द्वितीयशती ई०) तथा विशाखदत्तप्रणीत नाटक मुद्राराक्षसम् के पात्र कायस्थ इसी वर्ग के प्रतिनिधि हैं। आचार्य क्षेमेन्द्र (१२ वीं शती ई०) ने अपने कलाविलास में इन्हीं कायस्थों का विस्तृत विवरण दिया है। ये कायस्थ प्राय: न्यायालयों में (अधिकरणों) नियोजित व्यवहार - लेखक हुआ करते थे जिन्हें अब मुंशी कहा जाता है।

याज्ञवल्क्यस्मृति (१।३३६) में भी कायस्थ शब्द आया है जिसका अर्थ टीकाकार विज्ञानेश्वर (मिताक्षरा टीका) ने लेखक किया है।

प्रियदर्शी सम्राट अशोक (ई० पू० चौथी शती) के शिलालेखों में लिपिकार एवं दिपिकार शब्दों का प्रयोग मिलता है जो निश्चित रूप से पाण्डुलिपि - लेखक के ही अर्थ में प्रयुक्त है।

महर्षि पाणिनि की अष्टाध्यायी में, जैसा कि प्रारंभ में ही कहा जा चुका है कि लेखन से जुड़ी अनेक धातुओं एवं स्वतंत्र शब्दों का विवरण मिलता है। उनमें एक प्रमाण तो अत्यन्त ऐतिहासिक महत्त्व का है।

स्त्रीलिङ्ग शब्दों के निर्माण के प्रसंग में महर्षि पाणिनि ने ङीप, ङीष् तथा टाप् प्रत्ययों के प्रयोग का विधान बताया है जैसे गौर: से गौरी, देव: से देवी अथवा चटक: से चटका, बाल: से बाला आदि। परन्तु कुछ विशिष्ट शब्दों के सन्दर्भ में पाणिनि यह कहते हैं कि इन शब्दों से स्त्रीलिंग बनाने से पूर्व इनमें आनुक् प्रत्यय जोड़ लिया जाय। वे शब्द हैं - हिम, अरण्य, यव, यवन, मातुल, आचार्य।

इन शब्दों का स्त्रीलिंग रूप हिमी, अरण्यी, यवी, यवनी, मातुली तथा आचार्टी नहीं बनेगा । संस्कृत व्याकरण के अनुसार इनका स्त्रीलिङ्ग का रूप मूलशब्द में आनुक् प्रत्ययजोड़ कर बनाया जाना चाहिये । अत: शुद्ध रूप बनेगा - हिम आनुक् + ङीप् = हिमानी । इसी प्रकार - अरण्यानी, यवानी, यवनानी, मातुलानी तथा आचार्याणी ।

परन्तु प्रयोग तो यवनी शब्द का भी मिलता है । महाकवि कालिदास स्वयं अभिज्ञानशाकुन्तल नाटक में लिखते हैं - ततः प्रविशति यवनीभिः परिवृतो राजा ।

इस सन्दर्भ में व्यवस्था देते हुए महर्षि पाणिनि कहते हैं कि यवनी तथा यवनानी दोनो ही स्त्रीलिङ्ग शब्द ठीक हैं, परन्तु दोनो शब्दों में अर्थ - भेद है । यवन का अर्थ है यूनानी पुरुष । अत: यवन से यवनी बनेगा तो उसका अर्थ होगा यूनान देश की महिला (Greek lady) परन्तु जब यवन शब्द में आनुक् प्रत्यय जोड़ कर स्त्रीलिङ्ग बनायेंगे तब यवनानी शब्द का अर्थ होगा यूनानी लिपि (Greek Script) |

इस प्रकार सिद्ध है कि भारतीय लोग पाणिनि के युग में (ई० पू० ५ वीं या ७ वीं शती) भी यूनान देश की लिपि से सुपरिचित थे, जिसका अकाट्य साक्ष्य है यह यवनानी शब्द । प्रसिद्ध विद्वान् गोल्डस्टकर एवं डॉ० वासुदेवशरण अग्रवाल (India as Known to Panini) के लेखक) ने इन्हीं प्रमाणों के आधार पर भारत में लेखन - कला का विकास महर्षि पाणिनि से भी पूर्व माना है ।

कुछ अन्य साक्ष्य भी अत्यन्त महत्त्वपूर्ण एवं रोचक हैं

(1) हरिषेण - प्रणीत कथाकोष की २४ वीं कथा में मसी का प्रसंग आया है । इस कथा में एक अध्यापक के स्तम्भ शब्द का गलत अर्थ करने एवं समझने के कारण, उसके अन्धे हो जाने का वर्णन है । मसी का अर्थ लोकविदित है - स्याही के रूप में, जो कि लेखन का एक प्रमुख अंग है ।

(2) कुमारपालप्रबन्ध (आचार्य हेमचन्द्र - प्रणीत, ११ वीं शती ई०) में उल्लेख मिलता है कि एक बार राजा कुमारपाल प्रातःकाल गुरुजनों तथा साधुओं को प्रणाम कर लेखकशाला देखने के लिये गया । वहाँ पर लेखकगण कागज के पन्नों पर (ग्रंथ) लिखते दिखाई पड़े । (एकदा प्रातर्गुरून् साधूंश्च वन्दित्वा लेखक - शालाविलोकनाय गतः । लेखका: कागदपत्रकाणि लिखन्तो दृष्टाः) । इस विवरण से चालुक्य - सम्राट् कुमारपाल के समय में ग्रंथ - लेखन की विकसित परम्परा का ज्ञान होता है ।

(3) आचार्य हरिभद्र सूरि ने योगदृष्टिसमुच्चय नामक अपने ग्रंथ में श्रावकों के नित्यकर्म की प्रशंसा करते हुए कहा है - लेखना पूजना दानम् आदि । अर्थात् श्रावक (गृहस्थ) लोग लेखन, पूजन तथा दान आदि में समय बिताते हैं ।

इस विवरण से लेखनकला का समूचे समाज में व्याप्त एवं लोकप्रिय होना सिद्ध होता है ।

(4) शार्ङ्गधरपद्धति एवं पत्रकौमुदी में राजलेखक के गुणों की चर्चा करते हुए बताया गया है कि उसे ब्राह्मण होना चाहिये ।

पौराणिक एवं स्वतंत्र ग्रन्थों का साक्ष्य

लेखन - विषयक प्रमाणों की संख्या भूयसी है । महाकवि कालिदास (ई० पू० दूसरी शती) ने तो मालविकाग्निमित्रम्, विक्रमोर्वशीयम् तथा अभिज्ञानशाकुन्तलम् तीनो ही नाटकों में पत्रलेखन का विवरण दिया है । यह विवरण इतना प्रामाणिक एवं सटीक है कि पत्रलेखन की पूरी प्रक्रिया तथा पत्र लिखने वाली की विविध मुद्राओं का भी परिचय कराता है । इन विवरणों से सिद्ध हो जाता है कि ईसापूर्व दूसरी शती में भी भारत में अत्यन्त परिष्कृत लेखनकला विद्यमान थी ।

मालविकाग्निमित्र में विदिशानरेश कुमार अग्निमित्र को, समरभूमि से प्रेषित उनके पिता सेनापति पुष्यमित्र शुंग के पत्र का पूर्ण विवरण है । इस विवरण से यह भी ज्ञात हो जाता है कि उस समय पत्र किस शैली में तथा किस प्रकार लिखे जाते थे । पत्र का आशय इस प्रकार है

कल्याण हो । अश्वमेध यज्ञस्थल से सेनापति पुष्यमित्र विदिशा में स्थित आयुष्मान् पुत्र अग्निमित्र को स्नेहपूर्वक आलिङ्गित करते हुए कह रहे हैं कि आप को ज्ञात हो कि राजसूय यज्ञ में दीक्षित मैने जो यज्ञाश्व, सौ सामन्तों के साथ कुमार वसुमित्र के संरक्षण में, सालभर की अवधि में लौटने के उद्देश्य से युक्त छोड़ा था वह सिन्धु नदी के दक्षिणी तट पर विचरण करता यवननरेश शतानीक द्वारा पकड़ लिया गया । तदनन्तर दोनों सेनाओं में भयावह युद्ध हुआ ।

तदनन्तर शत्रुओं को पराजित कर धनुर्धारी वसुमित्र ने, बलपूर्वक अपहृत मेरे यज्ञ के घोड़े को पुनः प्राप्त कर लिया ।

वह मैं अब, सगरपुत्र अंशुमान् सदृश कुमार वसुमित्र द्वारा घोड़ा लौटा लिये जाने पर यज्ञ संपन्न करूँगा। इसलिये विना समय गँवाये, आप प्रसन्न - चित्त होकर वधूजनों के साथ, यज्ञ में भाग लेने के लिये पधारें (माल ०, अंक ५)।

लेखन चाहे पाण्डुलिपि का हो या पत्र का - समान होता है। विक्रमोर्वशीय में देवांगना उर्वशी भोजपत्र पर अपना पत्र लिख कर पत्र में अपना हस्ताक्षर भी करती है। हस्ताक्षर को कालिदास स्वहस्त: कहते हैं -

उर्वशी - तत् प्रभावनिर्मितेन भूर्जपत्रेण लेखं सम्पाद्य अन्तरा क्षेप्तुमिच्छामि।

राजा- (गृहीत्वा) वयस्य ! अंगुलिस्वेदेन दूष्येरन् अक्षराणि। धार्यतामयं मम प्रियायाः स्वहस्तः।

लार्ड कैनिंग को भी १ ९ १० ई० में (धार म० प्र०) भोजशाला के पीछे वाग्देवी की जो मूर्ति मिली थी (जो अब इण्डिया आफिस लाइब्रेरी लन्दन में रखी है) उस मूर्ति में भी सरस्वती के चरणों के नीचे महाराज भोज का अपना हस्ताक्षर उत्कीर्ण है स्वहस्तोऽयं भोजदेवस्य।

लेखन के लिये तीन वस्तुएँ तो अनिवार्य हैं - स्याही, लेखनी और कागज। परन्तु महाराज दुष्यन्त को प्रेमपत्र (मदनलेख) लिखते समय वनवासिनी शकुन्तला के पास ये तीनो ही वस्तुएँ नहीं हैं। फलत: वह सरस कमलिनी के पत्ते पर नाखून के अग्रभाग से ही अपना पत्र उत्कीर्ण कर डालती है।

पत्र लिखते समय शकुन्तला की मुद्रा का अद्भुत वर्णन करते हैं कालिदास, जो अत्यन्त विश्वसनीय है। शब्दों को सोच - सोच कर लिखती शकुन्तला पलक गिराना भी भूल गई है। उसकी एक भौंह ऊपर चढ़ गई है तथा कपोलों पर रोमाञ्च हो आया है। यह अत्यन्त अनुभवसिद्ध वर्णन है (कुछ लोग तो लिखते समय दाँतों से अधर दबा लेते हैं अथवा अन्यान्य मुद्रायें अपनाते हैं)

राजा - स्थाने खलु विस्मृतनिमेषेण चक्षुणा प्रियामवलोकयामि। यतः,

उन्नमितैकभ्रूलतमाननमस्या पदानि रचयन्त्याः।

कण्टकितेन प्रथयति मय्यनुरागं कपोलेन॥

शकुन्तला - हला चिन्तितं मया गीतवस्तु। न संनिहितानि पुनर्लेखन - साधनानि।

प्रियंवदा - ननु एतस्मिन् शुकोदरसुकुमारे नलिनीपत्रे पत्रच्छेदभक्त्या नखैर्निक्षिप्तवर्ण कुरु।

इसी प्रकार बाणभट्ट - प्रणीत कादम्बरी में भी पत्रों के आदान - प्रदान का सन्दर्भ विस्तारपूर्वक वर्णित है। केयूरक उज्जयिनी से महाराज तारापीड़ का पत्र लेकर कुमार चन्द्रापीड के पास आता है। इसी प्रकार चन्द्रापीड अपने पत्र के साथ पत्रलेखा को कादम्बरी के पास भेजता है। ये समस्त साहित्यिक उदाहरण प्रथम से सातवीं शती ई० के बीच के हैं।

अनेक पुराणों में भी पत्रलेखन के सन्दर्भ मिलते हैं। श्रीमद्भागवत पुराण में राजा भीष्मक की पुत्री रुक्मिणी अपना पत्र एक ब्राह्मण के हाथ, द्वारकाधीश कृष्ण के पास भेजती है। यह पत्र अत्यन्त मार्मिक है तथा कालक्रम की दृष्टि से संभवत: सर्वाधिक प्राचीन भी है क्योंकि मुख्य पुराण वेदव्यास - प्रणीत माने जाते हैं जो महाभारतकालीन हैं।

लिपिकार के गुण

गरुडपुराण में लेखक के गुणों की चर्चा करते हुए कहा गया है कि उसे मेधावी, वाक्पटु, प्रतिभाशाली, सत्यवादी, जितेन्द्रिय तथा समस्त शास्त्रों में निष्णात होना चाहिये

मेधावी वाक्पटुः प्राज्ञः सत्यवादी जितेन्द्रियः।

सर्वशास्त्रसमालोकी ह्येष साधुस्स लेखकः॥

मत्स्यपुराण (अ० १८ ९) में उपलब्ध लेखक - विषयक यह विवरण और भी अधिक विस्तृत तथा महत्त्वपूर्ण है

सर्वदेशाक्षराभिज्ञः सर्वशास्त्रविशारदः।

लेखकः कथितो राज्ञः सर्वाधिकरणेषु वै॥

शीर्षोपेतान् सुसम्पूर्णान् शुभश्रेणिगतान् समान्।

अक्षरान् वै लिखेद्यस्तु लेखकस्स वरः स्मृतः॥

उपायवाक्यकुशलः सर्वशास्त्रविशारदः ।
बह्वर्थवक्ता चाल्पेन लेखकः स्यान्नृपोत्तम ।।
नानाभिप्रायतत्त्वज्ञो देशकालविभागवित् ।
अनाहार्यो नृपे भक्तो लेखकः स्यान्नृपोत्तम !!

यह वर्णन अद्भुत है । इसमें न केवल लेखक की विद्वत्ता, अनेक - शास्त्र पारंगतता, प्रतिभाशालिता, देशकालज्ञता, अनेक देशों की लिपियों की विशेषज्ञता तथाबह्वर्थवक्तृता का उल्लेख है बल्कि उसकी विश्वसनीयता को भी रेखांकित किया गया है कि लेखक को राजा के प्रति समर्पित होना चाहिये (ताकि वह पत्र की गोपनीयता को भंग न कर दे) उसे अनाहार्य अर्थात् धनादि के लोभ में भी न डिगने वाला होना चाहिये । शायद ही ऐसा सूक्ष्मवर्णन विश्व के किसी अन्य भाग में मिले ।

मत्स्यपुराण में लेखक को कर्णिन्, शासनिन् तथा धर्मलेखिन् भी कहा गया है । ये संज्ञायें संकेतित करती हैं कि पत्र राजाज्ञापरक तथा धर्मपरक भी हुआ करते थे ।

इन प्रकीर्ण साक्ष्यों के अनन्तर ही आता है लेखनविषयक स्वतंत्र ग्रंथों के प्रणयन का युग । संभवत: इस सन्दर्भ में प्राचीनतम स्वतंत्र ग्रंथ आचार्य क्षेमेन्द्र कृत लोकप्रकाश नामक ग्रंथ है जो १२ वीं शती ई० का है ।

विद्यापति - प्रणीत लिखनावली का समय १४१८ ई० है । इसी प्रकार हरिदासकृत लेखकमुक्तामणि तथा लेखपञ्चाशिका भी स्वतंत्रग्रंथ हैं जिनमें लेखन - कला के विविध पक्षों का सांगोपांग विवरण प्रस्तुत किया गया है ।

पालिवाङ्मय में लेखन को तंत्रयुक्ति कहा गया है तथा इसके पाँच संघटक अंग माने गये हैं-

(१) अभिकार (संगति)
(२) मंगलाचरण
(३) हेत्वर्थ (ग्रंथलेखन का हेतु अथवा उद्देश्य)
(४) उपदेश (कृतिकार के निजी उपदेश) तथा
(५) अपदेश (दूसरे के मत का उद्धरण) ।

सन्दर्भ :-

1. किन्तु लिपि - लेखन अपने आप में एक कला का रूप ले लेता है । फारस में इस कला का विशेष विकास हुआ है । वहाँ से भारत में भी इसका प्रभाव आया, और फारसी लिपि मे तो इस कला का चरमोत्कर्ष हुआ । -डॉ० सत्येन्द्र, पाण्डुलिपिविज्ञान (भूमिका)
2. सविस्तर द्रष्टव्य - पाण्डुलिपिविज्ञान – डॉ$_0$ सत्येन्द्र, राजस्थान हिन्दी ग्रंथ अकादमी, जयपुर, द्वितीय संस्करण १ ९ ८ ९, पृ० १८३-१८९
3. द्रष्टव्य - पाण्डुलिपिविज्ञान - डॉ. सत्येन्द्र, द्वितीय संस्करण, पृ० १८५
4. खरोष्ठ विशुद्ध संस्कृत शब्द है । अत: कुछ विद्वानों के मतानुसार गधे के होंठ की तरह टेढ़ी - मेढ़ी होने के ही कारण इस लिपि को खरोष्ठी नाम दिया गया । इस नाम से इस लिपि का भारतीय होना सिद्ध है ।
5. द्रष्टव्य – पाण्डुलिपिविज्ञान, पृ. १ ९६
6. पेपीरस के सन्दर्भ में महत्त्वपूर्ण सूचना डॉ. सत्येन्द्र से साभार उद्धत –
   पेपायरस (पेपीरस) एक वरूं या सरकण्डे की जाति का पौधा होता है जो दलदली प्रदेश में बहुतायत से पैदा होता है । मिस्र में नीलनदी के किनारे व मुहाने पर इसकी खेती बहुत प्राचीन काल से होती थी । यह पौधा प्रायः ५-६ फीट ऊँचा होता है और इसके डण्ठल साढ़े चार से नौ - साढ़े नौ इश लम्बे होते हैं । इसकी छाल से पतली चित्तियाँ निकाल कर, लेई आदि से चिपका लेते थे तथा उसी से लिखने के

लिये पत्र (कागज) बनाते थे। पहले इन पत्रों को दबाकर रखा जाता था, फिर अच्छी तरह सुखाया जाता था। सूख जाने पर हाथी दाँत या शंख से घोट कर उन्हें चिकना बनाया जाता था, फिर विविध आकारों में काट कर, लिखने के काम में लिया जाता था। इस तरह तैयार किये हुए लेखाधार लिप्यासन को योरोप वाले ' पेपायरस'कहते थे। इसी से अंग्रेजी पेपर शब्द बना है।

6A. पेपायरस के लम्बे - लम्बे लिखे हुए खरड़े (Scrolls) मिस्र की कब्रों में बड़े - बड़े सन्दूकों में रखी लाशों के हाथों में या उनके शरीरों से लिपटे हुए मिलते हैं जो लगभग ईसा से २००० वर्ष तक पुराने हैं। इनके नष्ट न होने का कारण मिस्र की गरम और सूखी जलवायु है।